शिक्षाः कितना सर्जन, कितना विसर्जन

अनुपम मिश्र

मुख्यधारा शिक्षा के बंधे-बंधाए ढांचे से इतर सभी तक शिक्षा पहुंचाने के कुछ अनूठे प्रयोग हुए हैं। सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र और स्वायत्त। यह व्याख्यान ऐसे ही दो प्रयोगों के बहाने शिक्षा के मायने, विषयवस्तु और शिक्षा प्रक्रियाओं पर चर्चा करता है।

कोई एक सौ पचासी बरस पहले की बात है। सन् 1829 की। कोलकाता के शोभाबाजार नाम की एक जगह में एक पाठशाला की स्थापना हुई थी। यह स्कूल बहुत विशिष्ट था। इसकी विशिष्टता एक विशेष व्यक्ति से ही सुनें हम। विनोबा इस स्कूल में 21 जून, 1963 में गए थे। उन्होंने यहां शिक्षा को लेकर एक सुंदर बातचीत की थी। उसके कुछ हिस्से हम आज यहां की बातचीत में दुहरा लें और आगे की बातचीत इसी किस्से से बढ़ सकेगी।

विनोबा कहते हैं कि इस स्कूल से कई महान् विद्यार्थी निकले। इनमें पहला स्थान शायद रवींद्रनाथ का है। उनकी स्मृति में इस स्कूल में एक शिलापट्ट भी लगाया गया है। स्कूल इस पट्ट में बहुत गौरव से बताता है कि यहां रवींद्रनाथ पढ़ते थे। यह बात अलग है कि उस समय रवींद्रनाथ को भी मालूम नहीं था कि वे ही 'रवींद्रनाथ' हैं और न स्कूल वालों को, न ही उनके संचालकों को मालूम था कि वे 'रवींद्रनाथ' होंगे।

यह स्कूल आदरपूर्वक उनका स्मरण करता है लेकिन गुरुदेव भी उस स्कूल का वैसे ही आदर के साथ स्मरण करते हों- इसका कोई ठीक प्रमाण मिलता नहीं। हां, एक जगह उन्होंने यह जरूर लिखा है कि, "मैं पाठशाला के कारावास से मुक्त हुआ, स्कूल छोड़कर चला गया।" यानी, इस स्कूल में उनका चित्त नहीं लगा। पर स्कूल वालों ने तो अपना चित्त उन पर लगा ही दिया था।

विनोबा फिर इस प्रसंग को स्कूल से बिल्कुल अलग एक और संस्था से जोड़ते हैं। स्कूल संस्था है गुणों के सर्जन की तो यह दूसरी संस्था है दुर्गुणों के विसर्जन की। जीवन में कुछ भयानक गलतियां, भूलें हो जाएं तो ऐसा माना जाता है कि उन भूलों को, गलतियों को मिटाने का काम इस संस्था में होता है। यह संस्था है कारावास, जेल। इसमें सामान्य अपराधियों के अलावा सरकारें, सत्ताएं, तानाशाह, आदि कई बार ऐसे लोगों को भी रखते हैं, जो उस दौर की सत्ता के हिसाब से कुछ गलत काम करते माने जाते हैं, पर बाद में तो समाज उन्हें अपने मन में एक बड़ा दर्जा दे देता है। विनोबा कहते हैं कि जिस किसी कारावास में

बड़े-बड़े लोग बंदी बनाकर रखे जाते हैं, बाद में उन लोगों के नाम भी वहां एक बोर्ड पर लिख दिए जाते हैं। वे यहां थे- इस पर कारावास को बड़ा गौरव का अनुभव होता है और वह उसे अब सार्वजनिक भी कर देना चाहता है। नैनी जेल में नेहरू जी, यरवदा जेल में गांधी जी और मांडले में लोकमान्य तिलक और दक्षिण अफ्रीका की ऐसी ही किसी जेल में नेलसन मंडेला का नाम पत्थर पर उत्कीर्ण मिल जाएगा।

स्कूल और कारागार तो एक-दूसरे से नितांत भिन्न, एकदम अलग-अलग संस्थाएं होनी चाहिएं, एकदम अलग-अलग स्वभाव की व्यवस्थाएं होनी चाहिएं। इन्हें चलाने वाली बातें अलग भी होनी चाहिएं। कारागार की समस्याएं भी पूरी दुनिया में लगभग एक-सी हैं और स्कूल की समस्याएं भी लगभग एक-सी। कारागार में सुधार होना चाहिए, इसे कहते सब हैं, मानते सब हैं; पर कभी एकाध किरण चमक जाए, दो-चार योगासन सिखा दिए जाएं- हॉलीवुड और उसी की तर्ज पर बॉलीवुड भी एकाध फिल्म बना दे- इससे ज्यादा कुछ हो नहीं पाता। कारागार सुधर नहीं पाते और हमारे स्कूल तक वैसे बनने लगते हैं। किसी भी महीने के अखबार पलट लें, स्कूलों में क्या-क्या नहीं हो रहा।

रवींद्रनाथ ने विनोबा के शब्दों में कहें तो ''सदोष और तंग तालीम'' के कारण अपने स्कूल को कारावास कहा था। लेकिन विनोबा पूछते हैं कि ''इन स्कूलों में यदि आज भी ऐसी ही तालीम दी जाती है तो सोचने की बात है। आखिर, इनका सुधार कब होगा? स्कूल ऐसा होना चाहिए जहां बच्चे मुक्त मन से सीखें।''

इसी कठिन काम में, स्कूलों को कारागार न बनने देने में आप सब लोग जुटे हैं। न जाने कब से लगे हैं। यह संस्था, केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, शिक्षण के विराट संसार में अभिनव प्रयोगों को प्रोत्साहन देने के लिए ही बनी थी। इसके उद्‌घाटन के अवसर पर मौलाना आज़ाद का दिया गया भाषण अभी भी हमारी धरोहर की तरह है। पढ़ना, पढ़ाना और पढ़ाने वालों को पढ़ाना- ऐसी तीन स्तर की स्कूल व्यवस्था में क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या कमी है, क्या अच्छाई है- यह तो आप सब मुझसे बेहतर ही जानते हैं। मैं उस काम के लिए यों भी अयोग्य ही साबित होऊंगा। खुद पढ़ने में, पढ़ाने में मेरी कोई खास गति नहीं थी। पुराने किस्से-कहानियों में नचिकेता का किस्सा मुझे बचपन में बहुत भा गया था। नचिकेता की मृत्यु विषयक जिज्ञासा, यम से उस बालक का संवाद आदि बातों से मेरा कोई लेना-देना नहीं था। उस कहानी में एक जगह नचिकेता, जिसे स्वगत भाषण कहते हैं- वैसे कुछ बुदबुदाता है। उसी बुदबुदाहट में यह पता चलता है कि नचिकेता कोई बहुत होशियार छात्र नहीं रहा है। न वह अगली पंक्ति का छात्र था और न कोई पिछली पंक्ति का। जरा औसत किस्म का छात्र था वह। मैं भी पढ़ाई के अपने पूरे दौर में ऐसा ही औसत दर्जे का छात्र रहा। इस औसत दर्जे पर मैंने और आगे सोचा। कोई अध्ययन जैसा, निष्कर्ष जैसा काम तो नहीं किया; पर इसे दूसरी पीढ़ी को भी सौंपने का काम सहज ही कर लिया था मैंने।

प्राथमिक शिक्षा के दौर में अपने जीवन की जब पहली परीक्षा देकर मेरा बेटा कुछ चिंतित-सा घर लौटा तो मैंने पूछ ही लिया था कि क्या बात है? उत्तर था पर्चा अच्छा नहीं हुआ। वह और आगे कुछ बताता, उससे पहले ही मैंने पूछा कि तुम्हारी कक्षा में और कितने साथी हैं? उत्तर था- चालीस। तब तो किसी न किसी का चालीसवां नंबर भी आना होगा। वह तुम भी हो सकते हो। मुझे इससे कोई परेशानी नहीं होगी और तुम्हें भी नहीं होनी चाहिए।

यह जो नंबर गेम चल पड़ा है, इसका कोई अंत नहीं है। कृष्ण कुमार जी ने बहुत पहले एक सुंदर लेख लिखा था, शायद आज से कोई छह बरस पहले- जीरो सम गेम। इस खेल में किसी को कोई लाभ नहीं हो रहा, लेकिन हमारी एक-दो पीढ़ियों को तो इसमें झोंक ही दिया गया है। घर का कचरा कभी-कभी दरी के नीचे डालकर छिपा दिया जाता है, पर समाज में यदि यह भावना बढ़ती गई कि 90 प्रतिशत से नीचे का कोई अर्थ नहीं तो हर वर्ष हमारी शिक्षण संस्थाओं से निकले इतने सारे असफल बता दिए गए छात्र कहां जाएंगे? कितनी बड़ी दरी चाहिए नब्बे प्रतिशत से कम वाले इस नए कचरे को छिपाने? मीटरों नहीं, किलोमीटरों लंबी-चौड़ी दरी। लगभग पूरा देश ढक जाए इतनी बड़ी दरी बनानी पड़ेगी। फिर दरी के नीचे छिपे नब्बे के नीचे वाले भला कब तक शांत बैठेंगे- दरी में वे जगह-जगह छेद करेंगे, उसे फाड़कर ऊपर झांकेंगे।

मैंने तय किया था कि आज आप सबके बीच में दो ऐसे स्कूलों का किस्सा रखूंगा जो इस 90-99 के फेर से बचे रहे। इनमें से एक तो ऐसा बचा कि उसने 90-99 के फेर को अपने आसपास के लोगों तक को ठीक से समझाया और एक ऐसा काम कर दिखाया जो हम खुद भी नहीं कर पाते- उसने समाज में अच्छी शिक्षा के दरवाजे खोले, मगर अपने दरवाजे बंद कर दिए।

99 का फेर हमारे बच्चों में अपूर्णता की ग्लानि भरता है। वह उन्हें जताता रहता है कि इससे कम नंबर आने पर तुम न अपने काम के हो, न घर के काम के और न समाज के काम के। फिर वे खुद ऐसा मानने लगते हैं, उनके माता-पिता भी उन्हें इसी तरह देखने लगते हैं। फिर ये तीनों विभाजन एक ही रूप में समा जाते हैं। वह रूप है रोज-रोज बढ़ता बाजार। तुम बाजार के काम के नहीं। तुम पूरे नहीं हो, पूर्ण नहीं; अपूर्ण हो। निहायत बेवकूफ हो। खुद पर भी बोझा हो, हम पर भी बोझा। हर साल ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जो बताते हैं कि 99 न आ पाने का, अपूर्णता का बोझा कितना भारी हो जाता है कि उस बोझ को उठाकर जीवन जीने के बदले इन कोमल बच्चों को, किशोर छात्रों को अपनी जान दे देना, आत्महत्या करना ज्यादा ठीक लगता है।

उन स्कूलों पर आने से पहले एक बार फिर विनोबा का सहारा ले लें। वे रवींद्रनाथ के स्कूल वाले प्रसंग में ही एक बहुत ऊंची बात कहते हैं। वे बच्चों को भी उतना ही पूर्ण मानते हैं, जितने पूर्ण उनके माता-पिता हैं। वे ईशोपनिषद् के 'पूर्णमदः पूर्णमिदम' का उल्लेख करते हैं। यह भी पूर्ण, वह भी पूर्ण। मां-बाप भी पूर्ण, बच्चे भी पूर्ण और उनके शिक्षक भी पूर्ण। यदि मां-बाप की अपूर्णता देखकर बच्चे को शिक्षा दोगे तो पहले तो छात्र अपूर्ण दिखेगा और फिर मां-बाप शिक्षक में भी अपूर्णता देखने लगेंगे। यह जरा कठिन-सी बात लगती है- पूर्णता और अपूर्णता की। लेकिन बच्चे को पूर्ण समझ कर तालीम देने लगें तो कल शिक्षण का ढंग ही बदल जाएगा। विनोबा कहते हैं, इसके लिए बच्चे के आसपास की सारी सृष्टि आनंदमय होनी चाहिए। स्कूल भी आनंदमय होना चाहिए। तब स्कूल में छुट्टी का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि वह कोई सजा तो नहीं है। वह तो आनंद का विषय है।

ऐसी बातें 'दूर की कौड़ी' लगेंगी। पर समय-समय पर अनेक शिक्षाविदों ने, शिक्षाशास्त्रियों ने, क्रांतिकारियों तक ने, उन सबने जिन्होंने समाज की शिक्षा पर कुछ सोचा-समझा था- उन्होंने आकाश-कुसुम जैसी कल्पनाएं की तो हैं। उनके नाम देसी भी हैं, विदेशी भी। पढ़ाने का पूरा शास्त्र जानने वाले आप सब उन नामों से मुझसे कहीं ज्यादा परिचित हैं। और इसमें भी शक नहीं कि निराशा के एक लंबे दौर में सांस लेते हममें से ज्यादातर को लगेगा कि ऐसा होता नहीं है। लेकिन दून या ऋषिवेली जैसे परिचित नामों से अलग हटकर एक गुमनाम स्कूल की यात्रा करेंगे आज।

स्कूल का नाम नहीं है, पर वहां पहुंचने के लिए कुछ तो छोर पकड़ना पड़ेगा न। इसलिए गांव के नाम से शुरू करते हैं यह यात्रा। गांव है- लापोड़िया। जयपुर जिले में अजमेर के रास्ते मुख्य सड़क छोड़कर कोई 20-22 किलोमीटर बाएं हाथ पर। यहां नवयुवकों की एक छोटी-सी टोली कुछ सामाजिक कामों में, खेलकूद में, भजन गाने में लगी थी। गांव में एक सरकारी स्कूल था। पर सब बच्चे उसमें जाते नहीं थे। शायद तब सरकार को भी 'सर्व शिक्षा अभियान' सूझा नहीं था। गांव में पुरखों के बने तीन बड़े तालाब थे, पर वे न जाने कब से टूटे पड़े थे। बरसात होती थी पर इन तालाबों में पानी नहीं टिकता था, अगल-बगल से बह जाता था। इन्हें सुधारे कौन। पंचायत जो ग्राम विकास की योजनाएं बनाती थी, उन योजनाओं में यह सब तो आता नहीं था।

गांव में पशु- बकरी, गाय, बैल- काफी थे और चराने के लिए ग्वाले थे। ग्वाले ज्यादातर बच्चे ही थे, किशोर, जिन्हें आप सब शायद 'दूसरा दशक' के नाम से भी जानते हैं। गोचर था जरूर पर हर गांव की तरह इस पर कई तरह के कब्जे थे। घास-चारा था नहीं वहां। इसलिए ये ग्वाले पशुओं को दूर-दूर चराने ले जाते थे।

नवयुवकों की छोटी-सी टोली इन्हीं में घूमती थी। किसी पेड़ के नीचे बैठ उन्हें भजन सिखाती, गीत गवाती। इस टोली के नायक लक्ष्मणसिंह जी से आप पूछेंगे तो वे बड़े ही सहज ढंग से बताते हैं कि कोई बड़ा ऊंचा विचार नहीं था हमारे

पास। न हम कोई तालीम जानते थे, न पुरानी तालीम और न किसी तरह की सरकारी तालीम। शिक्षा का कहने लायक कोई विचार हमें पता नहीं था।

यह किस्सा है सन् 1977 का। दिन भर ऐसे ही गाते-बजाते पशु चराते। एक साथी थे गोपाल टेलर। इन्हें बस इतनी अंग्रेजी आ गई थी कि दर्जी के बदले टेलर शब्द ज्यादा वजन रखता है। तो गोपाल टेलर को लगा कि दिन में तो ये सब काम होते ही हैं, रात को एक लालटेल जलाकर कुछ लिखना-पढ़ना भी तो सीखना चाहिए।

सरकारी स्कूल था पर उसमें तो भरती होना पड़ता था, रोज दिन में जाना पड़ता था। रात को कोई क्यों पढ़ाएगा? सरकारी शाला के समानांतर रात्रि शाला खोलने जैसी भी कोई कल्पना नहीं थी। सरकार की टक्कर में कोई प्राइवेट स्कूल भी खोलने की न तो इच्छा थी, न हैसियत। लक्ष्मणसिंह जी बताते हैं कि अच्छे विचारों को उतारने में समय लगता है, मेहनत लगती है, साधन लगते हैं- यह सब भी हमें पता नहीं था। नहीं तो हम तो इस सबसे घबरा जाते और कुछ हो नहीं पाता। हमारे पास तो बस दो चीजें थीं- धीरज और आनंद।

गांव को पता भी नहीं चला और गांव में सरकारी स्कूल के रहते हुए एक 'और' स्कूल खुल गया। हमें भी नहीं पता चला कि यह कब खुल गया। स्कूल खुल ही गया तो हमें पता चले उसके गुण। कौनसे गुण और क्या ये सचमुच गुण ही थे। यह सूची बहुत लंबी है। आप जैसे शिक्षाविद् इन पर काम करेंगे तो हमें इन गुणों को और भी समझने का मौका मिलेगा।

किससे करवाते उद्घाटन, क्यों करवाते उद्घाटन जब पता ही नहीं कि यह स्कूल कब खुल गया? स्कूल का नाम भी नहीं रखा था, नाम तो तब रखते जब होश रहता कि कोई स्कूल खुलने जा रहा है। जब बिना नाम का स्कूल खुल ही गया तो फिर तो यही सोचने लगे कि स्कूल का नाम क्यों रखना। क्या यह भी कोई जरूरी चीज है?

नेताओं के नाम पर बने स्कूलों की कमी नहीं, क्रांतिकारियों, शहीदों, संतों, मुनियों, ऋतुओं, ऋषियों और तो और जात-बिरादरी के ऊंचे और छुटभैये नेताओं के नाम पर भी सब तरफ स्कूल हैं ही। पर सचमुच अगर पूरे देश में हर गांव में स्कूल खोलने हों तो कोई पांच-सात लाख नामों की जरूरत पड़ेगी। गुमनाम स्कूल चल पड़ा। बच्चों से कहां जा रहे हो जैसे प्रश्न पूछने वाले लोग थे नहीं। न पोशाक थी, न वर्दी थी, बोझ वाला बस्ता भी नहीं था, बिना बोझ वाला बस्ता भी नहीं था। स्कूल जैसा कुछ था नहीं तो नाम किसका रखते!

भवन नहीं था, न अच्छा, न गिरता-पड़ता। चलता-फिरता स्कूल था। आज यहां, कल वहां। गर्मी के मौसम में बड़े बरगद के नीचे, ठंड के दिनों में खुले में धूप के साथ। प्रश्न पूछने वालों की क्या कमी। कोई पूछ ही बैठे कि और बरसात के दिनों में कहां लगाओगे स्कूल? तो उत्तर मिलता कि सब बच्चे तो किसान-परिवार से हैं। बरसात में वे सब अपने खेतों में काम करते हैं। यानी, तब छुट्टी रखी जाएगी क्या? उत्तर मिलता कि नहीं। उन दिनों हमारे बच्चे गुणा-भाग सीखते हैं। गुणा-भाग कैसा? भगवान का गुणा-भाग। एक मुट्ठी गेहूं बोने से जो पौधे उगेंगे, उनकी बाली गिनकर तो देखो। प्रकृति का विराट गुणा-भाग समझने का इतना सुंदर मौका कब मिलेगा। सारे सरल और कठिन गुणा-भाग, दो दूनी चार जैसे सारे पहाड़ों का पहाड़, गणित का पहाड़ भी खेती के गुणा-भाग से छोटा ही, बौना ही होगा। यह नया बीज-गणित, बीजों का गणित जीवन के शिक्षण का भाग है।

कक्षाओं का शुरू में विभाजन नहीं था, पर धीरे-धीरे पहली टोली के बच्चे आगे बढ़े तो, वे अपने आप दूसरी कक्षा में आ गए। वे अपने पीछे जो खाली जगह कर आए थे, उसमें अब उत्साह से एक नई जमात आ गई। पर पहली कक्षा में पढ़ा क्या? कौनसा पाठ्यक्रम? कोई बना बनाया ढांचा नहीं रखा गया था। जो अक्षर ज्ञान सरकारी स्कूल में पढ़ाया जाता था या कहें नहीं पढ़ाया जाता था, उसे यहां बिना डांटे-फटकारे पढ़ा दिया गया था। और साथ में अनगिनत नई बातें, जानकारियां पाठ्यक्रम के अलावा भी। कुछ पचास पेड़-पौधों के नाम तो उन्हें आते ही थे, लेकिन अब उन नामों को लिखना भी आ गया था।

पहली से दूसरी कक्षा के बीच यों कोई दीवार तो नहीं थी, भवन ही नहीं था; फिर भी बच्चों को लगा कि स्कूलों में परीक्षा होती है तो हमारी परीक्षा कब होगी? नवयुवकों की टोली खुद कोई बड़ी पढ़ी-लिखी तो थी नहीं। आपस में बैठ दो-चार तरह के प्रश्न- भाषा, अक्षर ज्ञान, गिनती आदि के बना लिए। एकाध वर्ष इस तरह से पर्चे बने, पर्चे जांचे भी गए और पास-फेल बताने के बदले बच्चों को बुलाकर उनकी गलतियां वगैरह जो थीं, वे सब समझा दीं और उन्हें अगली कक्षा में भेज दिया।

फिर इस टोली को लगा कि जीवन में बच्चों को प्रश्न पूछना भी तो आना चाहिए। क्यों न हम उन्हें अभी से प्रश्न पूछना सिखाने लगें। इससे हम भी कुछ नया सीखेंगे और वे भी। तय हुआ कि हरेक छात्र एक प्रश्न पत्र खुद बनाएगा। बीस छात्रों की कक्षा में एक ही विषय पर बीस प्रश्न पत्र तैयार हो गए। यह भी निर्णय लिया गया कि उन्हें आपस में पत्तों की तरह फींटकर एक-दूसरे में बांट दिया जाए। देखा गया कि सभी प्रश्न पत्र ठीक-ठाक बने थे, न बड़े सरल, न बहुत कठिन। उत्तरों की जांच टोली के सदस्यों ने ही की।

एकाध वर्ष इसी तरह चला। फिर यह बात भी ध्यान में आई कि प्रश्न जब बच्चे बना ही रहे हैं तो उत्तर पुस्तिका की जांच हम क्यों करें! यह काम भी बच्चों पर डालकर देखना चाहिए। आखिर जीवन में अपना खुद का मूल्यांकन संतुलित ढंग से करना भी आना चाहिए। न अपने को कोई तीसमारखां समझे और न दूसरों से गया-गुजरा। सहज आत्मविश्वास से बच्चों का मन खुलना और खिलना चाहिए। प्रश्न भी तुम्हीं पूछो, उत्तरों की जांच-पड़ताल भी तुम्हीं करो अब। टोली की जरूरत पड़े तो मदद ली जा सकती है।

इस गुमनाम स्कूल का कोई संचालक मंडल नहीं था। अध्यक्ष, सदस्य, मंत्री, प्रधानाचार्य, कोषाध्यक्ष जैसा कोई पद नहीं था। महीने में कुल जितना खर्च होता, उतना चंदा माता-पिता से मिल जाए तो फीस क्यों लेना। कई बार कोई कहता कि फसल कटने पर हम कुछ दे पाएंगे, अभी तो है नहीं। स्कूल में कोई फीस, हाजरी रजिस्टर नहीं था, इसलिए किसने पैसा दिया, किसने नहीं- ऐसा कुछ भी रिकॉर्ड नहीं रखा गया।

बच्चे पढ़ रहे थे, खेल रहे थे, आनंद कर रहे थे। गांव में इन नवयुवकों की टोली की एक संस्था भी थी- ग्राम विकास नवयुवक मंडल। उसमें कई तरह के मेहमान आते थे। कभी आसपास से तो कभी दूर-दूर से भी। टोली उन मेहमानों से भी कहती कि थोड़ा समय निकालें और बच्चों से भी बातें करें। क्या बातें? कुछ भी बताएं जो आपको ठीक लगे। एक वर्ष में 25-30 विज़िटिंग फैकल्टी। तरह-तरह की जानकारियां और स्कूल चल पड़ा मजे-मजे में।

इधर इन बच्चों के चेहरों पर सचमुच ज्ञान की एक चमक-सी दिखने लगी थी। जो परिवार अपने बच्चों को सरकारी स्कूल भेज रहे थे, वे भी अब कभी-कभी इस विचित्र स्कूल में आने लगे थे। उन्हें भी यहां का वातावरण खुला-खुला-सा दिखा। डांट-फटकार, मारा-पीटी कुछ नहीं। बच्चे महकते-से, चहकते-से दिखते थे। कुछ परिवारों ने अपने बच्चों को सरकारी स्कूल से निकालकर इस स्कूल में डाल दिया। नवयुवकों की टोली को लगा कि एक ही गांव में कम से कम शिक्षा को लेकर होड़ नहीं मचनी चाहिए। लक्ष्मणसिंह जी एक दिन सरकारी स्कूल चले गए। प्रधान मास्टरजी से मिले। बड़ी विनम्रता से उन्हें भी अपने स्कूल आने का निमंत्रण दिया। कहा ये भी आपके ही बच्चे हैं, आपका ही स्कूल है। यहां थोड़ी भीड़ ज्यादा हो गई थी तो वहां कुछ कर लिया है। धीरे-धीरे वहां के एकाध मास्टर इधर भी आने लगे। वे यहां के बच्चों में ज्यादा रमने लगे। एक बड़ा अंतर तो समझदारी का था। ऊधम यहां बिल्कुल नहीं था। बचपन था, बचपना नहीं था। उमर में सयाने हुए बिना बच्चे व्यवहार में कितने सयाने हो सकते हैं- इसका कुछ चित्र उभरने लगा था।

इस बीच गांव के तीनों टूटे तालाब भी नवयुवकों की टोली और उनकी संस्था को बाहर से मिली कुछ मदद से बन गए थे। यहां पानी कम ही बरसता है। कोई 24 इंच। पर अब जितना भी बरसता उसे रोकने का पूरा प्रबंध हो गया

था। तब आई बारी गांव के गोचर को ठीक करने की, कब्जे हटाने की। फिर इस आंदोलन में इस स्कूल के सभी बच्चों ने भी भाग लिया। कभी-कभी तो ठंड की रातें अपने माता-पिता के साथ गोचर में रजाई ओढ़कर पहरा देते हुए भी कटीं।

गांव में सभी जातियों के परिवार हैं। चोरी-छिपे कई परिवार आसपास के हिरण, खरगोश का शिकार करते थे। गोचर उजड़ जाने से इनकी संख्या भी कम हो गई थी। पर गोचर सुधरने लगा तो वन के ये छोटे पशु भी आने लगे। तब गांव लापोडिया ने सबकी बैठक कर शिकार न खेलने का संकल्प लिया। इसका स्कूल से यों कोई खास संबंध नहीं दिखेगा, पर शहर के अपने बच्चे स्कूलों की तरफ से कभी-कभी चिड़ियाघर जाते हैं न। लापोड़िया गांव ने अपने पूरे क्षेत्र को खुला चिड़ियाघर घोषित किया, सबकी निगरानी से। इसमें स्कूल ने भी साथ दिया। जगह-जगह वन्य प्राणियों के संरक्षण, संवर्धन के बोर्ड बनाकर लगा दिए और उस इबारत को लोगों के मन में भी उतारने की कोशिश की। इस खुले चिड़ियाघर में शहरों के चिड़ियाघरों की तरह भले ही शेर, हाथी या जिराफ न हों लेकिन जो भी जानवर और पक्षी थे वे इस स्कूल की तरह ही खुले में घूमते थे और उनके बीच घूमते थे ये बच्चे।

स्कूल की कक्षाएं आगे बढ़ती गईं। पहली दूसरी हो गई, दूसरी तीसरी। इस तरह जब पहली बार सातवीं कक्षा आठवीं बनी तो आठवीं की ऊंची दीवार बच्चों के सामने खड़ी थी। सन् 1985 की बात होगी। अब तक तो वे खुद अपनी परीक्षा लेते थे, खुद ही प्रश्न बनाते थे, खुद ही अपने उत्तरों को सावधानी से जांचते थे। अब उन्हें दूसरों के बनाए प्रश्न-पत्र मिलने वाले थे। उनके उत्तर भी कोई और जांचने वाले थे। लेकिन बच्चों को, इस टोली को और उनके माता-पिता को भी इसकी कोई खास चिंता नहीं थी। बोर्ड की परीक्षा के अतिशय डर से यह स्कूल मुक्त था।

पूरी तैयारी थी पहली बार आठवीं की एक अपरिचित बाधा से मिलने की। सब बच्चों के फॉर्म राज्य शिक्षा बोर्ड में प्राइवेट छात्र की तरह जमा कराए गए। वहीं के सरकारी स्कूल में उन्हें परीक्षा में बैठने की अनुमति मिली। अपने स्कूल में परीक्षा भी अपनी ही थी। तुरंत परिणाम आ जाता था। यहां शिक्षा मंडल का पूरे राज्य में फैला हुआ विशाल संगठन था। इसलिए परिणाम आने में लंबा इंतजार करना पड़ा। पर जो बच्चे परीक्षा दे चुके थे, उन्होंने इस बीच में स्कूल आना बंद नहीं किया। वे हमेशा की तरह आते रहे। नई-नई चीजें करते रहे, अपने से छोटे बच्चों को पढ़ाते भी रहे। परिणाम आया। इस गुमनाम स्कूल की पूरी कक्षा इस दीवार को मजे में फांद गई थी, परिणाम शत-प्रतिशत था।

बच्चों की संख्या भी बढ़ चली थी, इसलिए शिक्षकों की जरूरत भी पड़ी। पर यह संख्या दो या तीन से ज्यादा कभी नहीं हो पाई। बाकी पढ़ाई बच्चे मिलकर करते। बड़ी कक्षा के बच्चे छोटी कक्षा को पढ़ाते। अंग्रेजी, विज्ञान और गणित में थोड़ा अभ्यास रखने वाले रामनारायण बुनकर और किसी और शहर से विवाह कर गांव में आई राजेश कंवर ने मदद दी। पर ये भी बच्चों को पढ़ाने की कोई डिग्री नहीं रखते थे। पढ़ाते-पढ़ाते सीखते गए, सिखाते गए।

बच्चे सन् 1985 के बाद हर साल आठवीं की एक दीवार कूंदते-फांदते रहे। हां, स्कूल की इमारत तो कभी-भी नहीं बनी, पर कुछ वर्ष बाद पाठ्यक्रम की किताबें बढ़ने लगीं तो कुछ नई खरीद करनी पड़ी। इन किताबों-कॉपियों को रोज-रोज घर से भारी बस्ते में लाना और फिर स्कूल से वापस घर ले जाने के नियम भी बड़े लचीले रखे गए। चाहो तो ले आओ, चाहो तो ले जाओ। एक घर में किसी कोने में बनी आलमारियों में सबके बस्ते रखने का इंतजाम भी हो गया था। जिसे होमवर्क कहा जाता है वह यहां नहीं था। यों भी घर में कोई कम काम होते हैं क्या? घर के ऐसे कामों में माता-पिता का हाथ बटाना भी तो एक शिक्षण ही है।

स्कूल में जब ठीक मानी गई संख्या में शिक्षक ही नहीं थे तो चपरासी जैसा पद भी कहां होता। देश भर के, शायद दुनिया भर के स्कूलों में बजने वाली घंटी यहां नहीं थी। इसलिए दिन का समय अलग-अलग विषयों के घंटों में बांटा नहीं जाता था। आज भाषा पढ़ रहे हैं तो दो-चार दिन भाषा, व्याकरण, उच्चारण, विभक्तियां- सब कुछ अच्छे से पढ़-समझ लो। फिर बारी गणित की आ गई तो दो-चार दिन गुणा-भाग का मजा लो। कभी-कभी तो एक ही विषय पूरे हफ्ते चल जाता। पचास मिनिट की तलवार किसी के सिर पर नहीं लटकती थी। न शिक्षक पर न छात्र पर।

फिर स्कूल में किसी घर से एक अखबार भी आने लगा। बड़े बच्चों को किताबों के अलावा अखबार पढ़ने की भी इच्छा हो तो वह पूरी की जानी चाहिए। सभी घरों में यों भी अखबार नहीं आता था। फिर बच्चों ने अखबार की खबरों पर टिप्पणी भी देना, अपनी पसंद, नापसंद भी बताना शुरू किया। फिर वे थोड़ा आगे बढ़े। खुद हाथ का लिखा दो-चार पन्ने का एक अखबार भी निकालने लगे। स्कूल का नाम नहीं था, अखबार भी बिना नाम का, हफ्ते में एक बार। हाथ से गांव की, स्कूल की, खेती-बाड़ी की, आसपास की खबरें, टिप्पणियां लिखी जातीं। गांव से 20 किलोमीटर दूर जयपुर-अजमेर सड़क पर दूदू कस्बे में फोटो कॉपी मशीन थी। शहर आते-जाते किसी के हाथ से हस्तलिखित सामग्री भेज दी जाती। कोई सौ प्रतियां वापस आ जातीं। इसे बच्चों के अलावा गांव के बड़े लोग भी खरीदते और चाय की दुकानों पर भी इसे पढ़ा जाने लगा। आठ आना या एक रुपया दाम भी रखा गया ताकि फोटो कॉपी का खर्च निकल आए। कोशिश की जाती कि अधिक से अधिक बच्चे इसमें अपनी राय रखें, सब कुछ न कुछ लिखें।

ऐसा स्कूल चला सकने वाली टोली, उसका गांव अभी एक और विचित्र प्रयोग करने जा रहा था। गांव ने शिकार बंद कर दिया था। वन्य प्राणियों का संरक्षण गांव खुद कर रहा था। खुले चिड़ियाघर का जिक्र पहले ही आ चुका है। गांव के तीनों तालाब ठीक होकर अब लबालब भरने लगे थे। एक तालाब पर चुग्गा भी रखा जाने लगा था। हर घर अपनी फसल से कुछ अनाज निकालकर इस चुग्गा-घर में बनी एक कोठरी में जमा करने लगा था। यहां से इसका एक अंश रोज निकालकर एक विशेष बने चबूतरे पर डाल दिया जाता था। इस चबूतरे पर बिल्ली-कुत्ते झपट नहीं सकते थे। आसपास की कई तरह की चिड़ियों के झुंड यहां बेफिक्र आते और दाना चुगते थे। सुबह से शाम तक चहचहाहट बनी रहती थी।

चूहे कहां नहीं हैं, लापोड़िया में खूब थे। किसानों के घरों में कहीं न कहीं तो अनाज की बोरियां होंगी ही। एक दिन लक्ष्मणसिंह जी को लगा कि हम सब घरों में चूहों को पकड़ने के लिए पिंजरे रखते हैं। पकड़ते तो खुद हैं पर फिर बच्चों को पिंजरा पकड़ाकर कहते हैं, बाहर छोड़कर आओ या मार दो। पेड़ बचा रहे हैं, वन्य प्राणी बचा रहे हैं, लेकिन घर के प्राणी को मार रहे हैं। इस चूहे ने हमारा भला ऐसा क्या बिगाड़ा है? सिद्धि विनायक की पूजा करने बड़े-बड़े लोगों के जाने की खबरें छपती हैं, कैलेंडरों में तरह-तरह के गणेशजी मिलते हैं और उन्हीं के पास बैठा रहता है यह चूहा। पर हम उसे न जाने कब से मारे चले आ रहे हैं। न संत उसे बचाते हैं, न मुनि लोग, न सरकारें। अरे! वह तो चूहा मारने के लिए इनाम भी देती है। अनाज का दुश्मन नंबर एक मानती है सरकार चूहों को।

गांव के कुछ लोग मिलकर बैठे। बातचीत चली कि इस पर क्या किया जा सकता है। सबने माना कि अनाज भी बचे और चूहा भी। प्रयोग के तौर पर गांव की आबादी से दो-चार कदम की दूरी पर एक चूहाघर बनाने का निर्णय हुआ। न जीव दया का नारा, न अहिंसा को परमधर्म बताने का ऊंचा झंडा। बस, प्रकृति को समझकर अपना कर्तव्य निभाने की एक कोशिश भर करने की बात थी। कोई दस बीघा जमीन इस काम के लिए निकाली गई, चूहाघर के लिए। एक तरह की झाड़ी से बाड़ लगाई ताकि बिल्ली, कुत्ते एकदम न घुस पाएं। सबको बता दिया गया कि घरों में चूहों को पकड़ें तो मारे नहीं, इस चूहाघर में लाकर छोड़ दें।

घर के कोनों में दुबके चूहे जब यहां दस बीघा में छूटने लगे तो उन्हें कैसा लगा- ये तो टीवी वाले उनसे कभी पूछ ही लेंगे! पर जो यहां आया उसने अपने शानदार बिल बनाने शुरू कर दिए। कुछ ही समय में चूहाघर आबाद हो गया, बस्ती बस गई। गांव में चील, उल्लू भी हैं, सांप भी, बिल्ली भी हैं, चूहे भी। प्रकृति में सब कुछ सबके सहारे मिल-जुलकर चलता है। गांव में चूहाघर बन गया। वहां के पेड़ों पर जो चिड़ियां बैठतीं उनकी बीट से तरह-तरह की घास के बीज नीचे गिरते। चूहाघर में बिल बन गए, आसपास घास उग आई। उन्हें जितना भोजन चाहिए उतना मिल गया, जितनी सुरक्षा मिलनी चाहिए, घास के कारण उतनी सुरक्षा मिल गई और जितने चूहे इन चील, उल्लुओं को चाहिएं, उतने उन्हें मिल ही जाते होंगे।

चूहा घर बने अब दस वर्ष पूरे हो रहे हैं। गांव में चूहों की आबादी नहीं बढ़ी है। प्रकृति संतुलन खुद रखती है। खुद चूहे आजादी का महत्त्व जानते हैं। शायद वे खुद अपनी आबादी पर नियंत्रण रखे हैं।

तो क्या घरों में चूहे एकदम खतम हो गए हैं, अब वे घरों में नहीं आते? लक्ष्मणसिंह जी बड़े ही सहज ढंग से उत्तर देते हैं कि देखिए, आप भी कभी-कभी घर का खाना खाते-खाते अघा जाते हैं तो किसी दिन होटल में, ढाबे में चले ही जाते हैं। इसी तरह एकाध बार ये चूहे भी अपना घर छोड़कर हमारे घरों में आकर हलवा-पूरी या कुछ खा जाते हैं, पर अब प्रायः वे घरों के भीतर वैसे नहीं रहते जैसे पहले रहते थे। अब उनके अपने घर हैं, आरामदेह बिल हैं- यह उनके जीवन के लिए ज्यादा स्वभाविक है, सहज है। शायद ज्यादा आनंद का है। हमारे घरों के कारागार से उनकी मुक्ति हुई है।

कारागार से फिर स्कूल को याद कर लें। लापोड़िया ने स्कूल को आनंदधाम बनाया। फिर देखा कि गांव का सरकारी स्कूल भी थोड़ा-थोड़ा सुधर चला है। नवयुवकों की इस टोली ने फिर सन् 2006 में तय किया कि हमें किसी की होड़ में तो स्कूल चलाना नहीं था। तो क्यों न इसे अब बंद कर दें।

सृजन किया था जैसे चुपचाप, उसी तरह एक दिन उस स्कूल का विसर्जन कर दिया। न नाम था, न भवन, न बैंक में कोई खाता, न कोई संचालक मंडल, न ऐसे शिक्षक थे, जिन्हें स्कूल बंद करने के बाद किसी तरह की बेरोजगारी का सामना करना पड़ता या कि वे धरना देते दरवाजे पर। सबने मिलकर शुरू किया था। सबने मिलकर उसे सिरा दिया, उसका विसर्जन कर दिया। विसर्जित होकर यह विचार पूरे गांव में फैल गया है। लोग अच्छी बातें सीखने की कोशिश करते हैं, बुरी बातों को विसर्जित करने का प्रयास करते हैं। सब अच्छा सीख गए, सब बुरा मिटा दिया- ऐसा तो नहीं कह सकते, पर इसी लंबे दौर में इस क्षेत्र में 9 वर्ष का भयानक अकाल पड़ा था। आधे से कम बरसात गिरी थी, पर गांव में एक बूंद पानी की कमी नहीं थी। गांव के तीनों तालाब ऊपर से सूख गए थे पर इन्होंने गांव के भूजल को इतना संपन्न बना दिया था कि कोई सौ कुंओं में से एक भी कुंआ सूखा नहीं था, नौ साल के अकाल में। पूरे दौर में ठीक-ठीक फसल होती रही हर खेत में। गांव के बच्चों को दूध तक मिलता रहा, वहां के गोचर के कारण। जयपुर की सरस डेयरी को भी इस अकालग्रस्त गांव से सबसे पौष्टिक दूध मिला। सरकार ने तब उसे प्रमाणपत्र भी दिया था।

फिर कोई चार साल पहले इस इलाके में इतना अधिक पानी गिरा कि जयपुर शहर में भी बाढ़ आ गई, आसपास के कई गांव डूबे थे तब। पर लापोड़िया बाढ़ में डूबा नहीं। उसके तालाबों ने फिर सारा अतिरिक्त पानी आने वाले दौर के लिए समेट लिया था।

लापोड़िया गांव ने न तो सरकारी स्कूल की निंदा की, न कोई निजी स्कूल उसकी टक्कर में खोला, न किसी कॉरपोरेट को, कंपनी को उसकी सामाजिक जिम्मेदारी जताकर शिक्षा में सुधार की योजना बनाई। उसने ममत्व, यह तो मेरा है, मानकर एक गुमनाम स्कूल खोला, शिक्षण को कक्षा की दीवारों से उठाकर पूरे गांव में फैलने का विनम्र प्रयास किया और फिर उसे चुपचाप समेट भी लिया। एक भी पुस्तिका या कोई लेख इस प्रयोग को अमर बनाने के लिए उसने नहीं छापा।

शुरू में हमने दो स्कूलों की चर्चा करने की बात रखी थी। दूसरा स्कूल लापोड़िया गांव से थोड़ा अलग स्वभाव का है। यह पंजाब के गुरुदासपुर जिले के तुगलवाला गांव में चल रहा है। पर यह लापोड़िया की तरह गुमनाम नहीं है। शिक्षा के कड़वे दौर में इस मीठे स्कूल का नाम है- बाबा आयासिंह रियाड़की स्कूल। सन् 1925 में यहां के एक परोपकारी बाबा आयासिंह ने इसकी स्थापना 'पुत्री पाठशाला' के रूप में की थी। 'गुरुमुख परोपकार उमाहा' उनका घोष वाक्य था- यानी गुरु का सच्चा सेवक परोपकार भी बहुत चाव से, आनंद से करे।

यह विद्यालय यों कोई 15 एकड़ में फैला हुआ है पर बहुत चाव से, आनंद से काम करने के कारण आसपास के अनेक गांवों के मनों में, उनके हृदय में इस स्कूल ने जो जगह बनाई है, उसका तो कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

यहां प्राथमिक शाला- यानी पहली कक्षा से एम.ए. तक की शिक्षा दी जाती है। छात्राओं की संख्या है लगभग 3000। इसमें से कोई 1000 छात्राएं अपने पास के घरों से आती हैं। दूर के गांवों की कोई 2000 छात्राएं यहां छात्रावास में रहती हैं। पढ़ाई का खर्च महीने के हिसाब से नहीं, वर्ष के हिसाब से है। रोज आने-जाने वालों की फीस लगभग एक हजार रुपए सालाना है और जो यहीं रहती हैं, उन्हें पूरे साल का पढ़ाई, आवास और भोजन का खर्च लगभग 6,600 रुपया देना होता है। जिन परिवारों को यह मामूली-सी फीस भी ज्यादा लगे- उनसे एक रुपया भी नहीं लिया जाता। भरती होने के लिए आने वाली किसी भी छात्रा को यहां से वापस नहीं किया जाता। सचमुच, विद्यामंदिर के दरवाजे हरेक के लिए खुले हैं।

3000 छात्राओं वाले इस शिक्षण संस्थान में बहुत गिनती करें तो शायद दस-पांच शिक्षक मिल जाएंगे। पढ़ाई का, पढ़ाने का सारा काम छात्राएं ही करती हैं। बड़ी कक्षाओं की छात्राएं अपने से छोटी कक्षाओं को पूरे उत्साह से पढ़ाती हैं। 'सेल्फ टीचिंग डे' हमारे स्कूलों में होता है पर यहां तो सेल्फ टीचिंग इयर है पूरा। सिर्फ पढ़ाना ही नहीं, इतने बड़े शिक्षण संस्थान का पूरा प्रबंध छात्राओं के हाथ में ही है। यह काम दरवाजे पर होने वाली चौकीदारी से लेकर प्रध ाान अध्यापक के कमरे तक जाता है। साफ-सफाई, बिजली-पानी, इतनी बड़ी संख्या में छात्राओं का नाश्ता, दो समय का भोजन, तीन-चार मंजिल की इमारतों की टूट-फूट, नया निर्माण- सारे काम छात्राओं की टोलियां मिल-बांट कर करती हैं। संस्थान के रोजमर्रा के सब काम निपटाने के बाद इन्हीं छात्राओं की टोलियां जरूरत पड़ने पर आसपास के गांवों में सामाजिक विषयों पर, कुरीतियों पर, भ्रूण हत्या, नशाखोरी जैसे विषयों पर जन-जागरण के लिए पद यात्राओं पर भी निकल पड़ती हैं।

यह एक संस्थान माना जाता है जहां पंजाब के प्रायः सभी मुख्यमंत्री, राज्यपाल वर्ष में एकाध बार माथा टेकने आ ही जाते हैं। पर इस संस्थान ने आज तक पंजाब सरकार से मान्यता नहीं मांगी है। सरकार ने मान्यता देने का प्रस्ताव अपनी तरफ से रखा तो भी स्कूल ने विनम्रता से मना किया है। इसके संचालक श्री स्वरन सिंह विर्क का कहना है कि बच्चों की फीस से, खेती-बाड़ी, फल-सब्जी के बगीचों से इतना कुछ मिल जाता है कि विद्यालय को सरकार से मदद लेने की जरूरत नहीं पड़ती। फिर शासन की मान्यता का मतलब है शासन के तरह-तरह के नियमों का पालन। ज्यादातर नियम व्यवहार में उतारना कठिन होता है तो लोग उन्हें चुपचाप तोड़ देते हैं। फिर झूठ बोलना पड़ता है। यह सब यहां होता नहीं। इस स्कूल को इस इलाके में 'सच की पाठशाला' के नाम से भी जाना जाता है। यहां छात्राएं बोर्ड और विश्वविद्यालय की परीक्षाएं 'प्राइवेट' छात्र की तरह देती हैं।

पूरे देश में परीक्षाओं में नकल करने के तरह-तरह के नए तरीके, नई तकनीकें खोजी जा रही हैं। पंजाब में परीक्षा में नकल एक बड़ी समस्या है। नकल रोकने के उड़न दस्ते तक हैं। लेकिन गांव तुगलवाला की यह संस्था नकल के बदले छात्राओं की अकल और उनके संस्कारों पर जोर देती है। यह बताते हुए थोड़ा अटपटा भी लगता है कि यहां नकल पकड़ने वाले को एक बड़ा इनाम दिए जाने का बोर्ड तक लगा है! शुरू में कहीं विनोबा की एक बात कही थीः छात्र भी पूर्ण, उसके माता-पिता भी पूर्ण और शिक्षक भी पूर्ण। यहां शिक्षक का काम तीन चरणों में होता है। पहले में एक शिक्षिका पचास छात्राओं को पढ़ाती है। फिर दस-दस के समूहों को पढ़ाया जाता है। इन समूहों में कोई छात्रा किसी कारण से कुछ कमजोर दिखे तो उसे अपूर्ण, मूर्ख नहीं माना जाता- तब उसे एक अलग शिक्षिका समय देती है और उसे कुछ ही दिनों में सबके साथ मिला दिया जाता है।

शिक्षा के स्वावलंबन की ऐसी मिसाल कम ही जगह होगी- केवल गेहूं, धान ही पैदा नहीं होता। इतनी बड़ी रसोई शाला का पूरा आटा यहीं पिसता है, धान की भूसी यहीं निकाली जाती है। गन्ना पैदा होता है तो गुड़ भी यहीं पकता है, सौर ऊर्जा है, गोबर गैस है। काम दे चुकी छोटी-से-छोटी चीज़ भी कचरे में नहीं फेंकी जाती- सब कुछ एक जगह इकट्ठा करने वाली टोली है और फिर इस कबाड़ से क्या-क्या जुगाड़ बन सकता है- उसे भी देखा जाता है। बची चीज़ें बाकायदा कबाड़ी को बेची जाती हैं और उसकी भी पूरी आमदनी का हिसाब रखा जाता है।

सर्व धर्म समभाव पर विशेष जोर देने की बात ही नहीं है, वह तो है ही यहां के वातावरण में। दिन की शुरुआत सुबह गुरुवाणी के पाठ से होती है। परिसर की सफाई रोज नहीं होती, सप्ताह में एक बार होती है क्योंकि 3000 की छात्र संख्या होने पर भी कोई कहीं कचरा नहीं फेंकता। स्वच्छता अभियान यहां बिना किसी नारे के बरसों से चल रहा है।

आप सभी शिक्षा के संसार में बाकी संसार की तरह आ रही गिरावट की चिंता कर रहे हैं, उसे अपने-अपने ढंग से संभाल भी रहे हैं। आज सब चीजें, सुरीले से सुरीले विचार अंत में जाकर बाजार का बाजा बजाने लग जा रहे हैं। शिक्षा की दुनिया में शिक्षण अपने-आपमें एक बड़ा बाजार बन गया है। पर जैसे बाजार में मुद्रास्फीति आई है, ऐसे ही शिक्षा के बाजार में भी यह मुद्रास्फीति आ गई है। पहले संतरामजी बी.ए. से काम चला लेते थे। आज तो पीएचडी का दाम भी घट गया है।

हम में से कई लोगों को इसी परिस्थिति में आगे काम करना है। जो पढ़ाई आज आप कर रहे हैं, वह आगे-पीछे आपको एक ठीक नौकरी देगी- पर शायद इसी बाजार में। प्रायः साधारण परिवारों से आए हम सबके लिए यह एक जरूरी काम बन जाता है। इसलिए आप सबको एक छोटी-सी सलाह- नौकरी करें जीविका के लिए लेकिन चाकरी करें बच्चों की। हम अपनी नौकरी में जितना अंश चाकरी का मिलाते जाएंगे, उतना अधिक आनंद आने लगेगा।

विनोबा से हमने आज की बात प्रारंभ की थी। उन्हीं की बात से हम विराम देंगे। यह प्रसंग बहुत सुंदर है। इसे बार-बार दुहराने में भी पुनर्रुक्ति दोष नहीं दिखता। उनके शब्द ठीक याद नहीं। भाव कुछ ऐसे हैः

पानी जब बहता है तो वह अपने सामने कोई बड़ा लक्ष्य, बड़ा नारा नहीं रखता कि मुझे तो बस महासागर से ही मिलना है। वह बहता चलता है। सामने छोटा-सा गड्ढा आ जाए तो पहले उसे भरता है। बच गया तो उसे भरकर आगे बढ़ चलता है। छोटे-छोटे ऐसे अनेक गड्ढों को भरते-भरते वह महासागर तक पहुंच जाए तो ठीक। नहीं तो कुछ छोटे गड्ढों को भरकर ही संतोष पा लेता है।

ऐसी विनम्रता हम में आ जाए तो शायद हमें महासागर तक पहुंचने की शिक्षा भी मिल जाएगी। ◆

(केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के सड़सठवें स्थापना दिवस के अवसर पर 19 दिसम्बर, 2014 को दिया गया भाषण। अनुपम जी की अनुमति से साभार प्रकाशित। शिक्षा विमर्श के लिए इस व्याख्यान का लिप्यांतरण स्वतंत्र मिश्र ने उपलब्ध करवाया।)

अनुपम मिश्रः जाने-माने गांधीवादी विचारक और लेखक, पत्रकार और पर्यावरणविद् हैं। जल संरक्षण और प्रबंधन की परंपरागत तकनीकों के प्रोत्साहन पर सघन कार्य किया है। गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली से विभिन्न भूमिकाओं में लंबे अर्से से जुड़े हुए हैं और 'गांधी मार्ग' के संपादक हैं।